



ISSN Print: 2394-7500  
 ISSN Online: 2394-5869  
 Impact Factor: 5.2  
 IJAR 2017; 3(4): 897-900  
[www.allresearchjournal.com](http://www.allresearchjournal.com)  
 Received: 20-01-2017  
 Accepted: 28-03-2017

### डा० कैवल्य चैतन्य

सूर्या अपार्टमेन्ट, फ्लैट नं०- 102  
 आदमपुर, भागलपुर, बिहार, भारत

## संस्कृत अंतस्थों एवं ऊष्मों की उच्चारण – मीमांसा

### डा० कैवल्य चैतन्य

#### सारांश

अंतस्थ वर्णों के उच्चारण में जिह्वा संवृत स्थान से विवृत स्थान की ओर चलती है। इसी कारण इनको अर्धस्वर भी कहा जाता है। अंग्रेजी में इन्हें 'मउप.अवूमसे' कहते हैं, यद्यपि अंग्रेजी में केवल 'व्' ङ्ङ तथा 'य्' ङ्ङ ये दो ही अंतस्थ हैं। यकार तालु स्थान से उच्चरित होता है। इसके उच्चारण में होने वाला आभ्यन्तर प्रयत्न ईषत्स्पृष्ट कहलाता है। रेफ का उच्चारण दन्तमूल प्रदेश पर होता है। कतिपय आचार्य रेफ को वर्स्य से उच्चरित होने वाला वर्ण स्वीकार करते हैं। 'वर्स्य' से तात्पर्य है दन्तमूल से ऊपर का भाग। लकार का उच्चारण स्थान दन्तमूल है। वकार का उच्चारण स्थान ओष्ठ बतलाया गया है, एवं दन्ताग्र को इसका करण। शकार का प्रातिशाख्यों में उच्चारण स्थान तालु एवं करण जिह्वामध्य बतलाया गया है। षकार को मूर्धा से उच्चरित होने वाला वर्ण तथा प्रतिवेष्टित जिह्वाग्र को इस वर्ण का करण माना गया है। सकार को दन्तस्थान से तथा कुछ अन्व्यों के अनुसार दन्तमूल प्रदेश से उच्चरित होने वाला वर्ण माना गया है। आधुनिक ध्वनि-वैज्ञानिकों ने हकार के 'अघोष' एवं 'सघोष' दो रूपों को स्वीकार किया है।

**मुख्य शब्द :** संवृत, विवृत, ईषत्स्पृष्ट, दन्तमूल प्रदेश, दन्ताग्र, जिह्वामध्य, प्रतिवेष्टित, अघोष, सघोष, वर्स्य (वर्त्स)।

#### प्रस्तावना:

अन्तस्थों को अर्धस्वर भी कहा जाता है। इनके उच्चारण में जिह्वा संवृत से विवृत स्थान की ओर चलती है। इनके उच्चारण में करण उच्चारण स्थान से न तो पर्याप्त दूर ही रहता है और न पूर्णतया उसका स्पर्श ही करता है। ऊष्म वर्णों के उच्चारण में विवृतता के साथ ईषत्स्पृष्टता भी रहती है। कतिपय ग्रंथों में इन्हें 'संघर्षी' भी कहा गया है।

#### आलेख (Main thrust)

अन्तस्थ वर्णों के उच्चारण में जिह्वा संवृत स्थान से विवृत स्थान की ओर चलती है। इसीलिये अन्तस्थ वर्णों को अर्धस्वर भी कहा जाता है। अन्तस्थ वर्णों के उच्चारण में फेफड़े से चली हुई वायु स्वरतंत्रियों के दोनों परदों के माध्यम से सघोष हो जाती है। इसलिए इन अन्तस्थ वर्णों का बाह्यप्रयत्न संवार, नाद एवं घोष है। आभ्यन्तर प्रयत्न ईषत्स्पृष्ट है। क्योंकि इन वर्णों के उच्चारण में जिह्वा अपने कुछ भाग द्वारा तालु इत्यादि स्थानों का स्पर्श करती है, जिससे संपूर्ण वायु मुख-विवर में न रुककर, कुछ मात्रा में निरंतर बाहर निकलती रहती है। इन वर्णों के उच्चारण में वायु-प्रवाह की गति कुछ शिथिल रहती है। इन ध्वनियों के उच्चारण में 'करण' प्रथमतः स्वर के उच्चारण की स्थिति में रहता है, तत्पश्चात् इन वर्णों के निर्धारित स्थान को किंचित् स्पर्श करता है। करण की प्रथम अवस्था अत्यल्प काल तक रहती है। इन वर्णों को अन्तस्थ कहने का भी कारण यही है कि इनके उच्चारण में न तो स्वरों के उच्चारण की भांति करण उच्चारण-स्थान से पर्याप्त दूर ही रहता है और न स्पर्श वर्णों के उच्चारण की भांति स्थान का पूर्णतया स्पर्श ही करता है। अब क्रमशः अन्तस्थ वर्णों की उच्चारण-प्रक्रिया का विवेचन किया जा रहा है –

सभी प्रातिशाख्यों, शिक्षाग्रन्थों एवं वैयाकरणों के अनुसार, यकार तालु-स्थान से उच्चरित होता है। तै० प्रा० के अनुसार यकार के उच्चारण में जिह्वा के मध्यभाग के दोनों किनारों द्वारा 'तालु-स्थान' पर स्पर्श करना चाहिए।<sup>1</sup> वा० प्रा० एवं च० अ० भी जिह्वामध्य को ही तालुस्थानीय वर्णों का करण स्वीकार करते हैं। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि यकार के उच्चारण में जिह्वा के मध्य भाग को उठाकर तालु पर स्पर्श किया जाता है। परन्तु यह स्पर्श इस प्रकार का होता है जिससे मुख-विवर में वायु एक भी क्षण के लिए पूर्णरूप से अवरुद्ध नहीं होती। तै० प्रा० के विधान के अनुसार जब जिह्वामध्य के दोनों किनारे उठकर तालुप्रदेश का स्पर्श करते हैं, तब जिह्वामध्य के बीच वाले भाग

#### Corresponding Author:

#### डा० कैवल्य चैतन्य

सूर्या अपार्टमेन्ट, फ्लैट नं०- 102  
 आदमपुर, भागलपुर, बिहार, भारत

से वायु निरंतर बाहर निकलती रहती है। अर्थात् वायु-मार्ग का अवरोध पूर्णरूपेण न होने से वायु अतिशिथिल वेग से बाहर निकलती रहती है। इस प्रकार यकार के उच्चारण में होने वाला आभ्यन्तर प्रयत्न ईषत्स्पृष्ट कहलाता है। आधुनिक युग में यकार को सभी ध्वनि-वैज्ञानिक विद्वान् तालव्य ध्वनि नहीं मानते। कतिपय विद्वान् 'वर्त्स स्थान' से यकार का उच्चारण होना स्वीकार करते हैं।

रेफ के उच्चारण के संबंध में प्रातिशाख्यों एवं शिक्षा ग्रंथों में लगभग समान विचार प्राप्त होते हैं। वा० प्रा०, तै० प्रा०, च० अ० आदि के अनुसार रेफ का उच्चारण दन्तमूल प्रदेश पर होता है। ऋ० तं० में रेफ को दन्तप्रदेश अथवा दन्तमूल प्रदेश से उच्चरित होने वाला वर्ण स्वीकार किया गया है।<sup>12</sup> ऋ० प्रा० में कहा गया है कि कतिपय आचार्य रेफ को 'वर्स्व' से उच्चरित होने वाला वर्ण स्वीकार करते हैं।<sup>13</sup>

तै० प्रा० के अनुसार रेफ के उच्चारण में जिह्वा के मध्यभाग से दन्तमूल के ऊपर वाले भाग के अन्दर की ओर स्पर्श करना चाहिए। दन्तमूल का सामान्य अर्थ है - दाँतों की जड़। यह वह स्थान है जहाँ दाँत और मसूड़ा परस्पर जुड़े होते हैं। परन्तु ध्वनि-उत्पत्ति में दन्तमूल से तात्पर्य है - अन्दर की ओर का वह स्थान जहाँ दाँत और मसूड़े जुड़े रहते हैं। तै० प्रा० में 'प्रत्यक्' शब्द का प्रयोग किया गया है। प्रत्यक् का अर्थ भाष्यकारों ने 'अन्दर स्थित उपरिभाग' किया है।<sup>14</sup> इस प्रकार तै० प्रा० के अनुसार ऐसा प्रतीत होता है कि रेफ का उच्चारण 'वर्स्व' ही है, क्योंकि अन्य प्रातिशाख्यों में वर्त्स से तात्पर्य है - दन्तमूल से ऊपर का भाग। वा० प्रा० के अनुसार जिह्वाग्र को ही रेफ का करण स्वीकार किया गया है।<sup>15</sup> रेफ के उच्चारण में अन्दर से आती हुई वायु को जिह्वाग्र के द्वारा दन्तमूल प्रदेश पर रोक दिया जाता है। फलस्वरूप वायु के आघात से जिह्वाग्र में कम्पन होता है। इसी कम्पन के परिणामस्वरूप रेफ ध्वनि का प्रादुर्भाव होता है। तै० प्रा० पर वैदिकभरण भाष्य में कहा गया है कि रेफ के उच्चारण में वस्त्रादि को फाड़ने जैसी आवाज होती है। अतः इसे रेफ कहा जाता है।<sup>16</sup> इस कथन का तात्पर्य है कि रेफ के उच्चारण में जब जिह्वाग्र वर्त्स का स्पर्श करता है, तब उसमें एक प्रकार का कम्पन होता है। इसी कम्पन के फलस्वरूप रेफ का उच्चारण होता है। परवर्ती वैयाकरणों ने रेफ को मूर्धन्य वर्ण माना है।<sup>17</sup> च० अ० पर हिवटनी ने च० अ० की किसी अज्ञातनामा भाष्यकार द्वारा लिखे गए भाष्य से कुछ कारिकाएँ उद्धृत की हैं, जिनमें कहा गया है कि दूसरे आचार्य कहते हैं कि रेफ का उच्चारण हनुमूल पर अथवा दन्तमूल पर होता है तथा कतिपय अन्य आचार्य कहते हैं कि दन्तमूल के ऊपर स्थित प्रदेश पर अथवा मूर्धा स्थान पर रेफ का उच्चारण होता है। इसी सूत्र की व्याख्या में हिवटनी ने तै० प्रा० के जिह्वाग्रमध्य का अर्थ - जिह्वा का अग्रभाग तथा मध्यभाग किया है। अर्थात् रेफ के उच्चारण में जिह्वा का अग्र और मध्य दोनों भाग दन्तमूल का एक ही समय में स्पर्श करते हैं।

ऋ० प्रा० तथा तै० प्रा० के अनुसार लकार का उच्चारणस्थान दन्तमूल है।<sup>18</sup> वा० प्रा० तथा च० अ० के अनुसार लकार का उच्चारण स्थान दन्त है। च० अ० प्रस्तीर्ण अर्थात् फँसे हुए जिह्वाग्र को दन्त्य वर्णों का करण स्वीकार करती है। अर्थात् लकार के उच्चारण के लिये जिह्वा के अग्रभाग को फँसाकर मुखविवर में ऊपर की दन्त पंक्ति में सामने वाले दाँतों का स्पर्श किया जाता है। तै० प्रा० के अनुसार लकार के उच्चारण में जिह्वाग्रमध्य से दाँतों के मूल प्रदेश पर अन्दर की ओर स्पर्श करना चाहिए। तै० प्रा० के अनुसार रेफ और लकार के उच्चारण-स्थान की भिन्नता को स्पष्टतः समझ लेना उचित होगा। इस ग्रन्थ में रेफ का उच्चारण-स्थान दन्तमूल प्रदेश को बतलाया गया है। जिस स्थान पर दाँत मसूड़े से जुड़े हुए रहते हैं उसे दन्तमूल कहा जाता है तथा दन्तमूल से थोड़ा ऊपर वाले प्रदेश को प्रत्यग्दन्तमूल कहा जाता है। इससे ऐसा स्पष्ट होता है

कि लकार ध्वनि को थोड़ा और ऊपर वाले भाग से उच्चरित करने का प्रयत्न किये जाने पर रेफ ध्वनि उच्चरित हो सकती है। संभवतः पाणिनि सम्प्रदाय के वैयाकरणों ने इसीलिए रेफ एवं लकार में निकटतम संबंध माना है तथा दोनों वर्णों में सावर्ण्य भी स्वीकार किया है।

सभी प्रातिशाख्यों में वकार का उच्चारणस्थान ओष्ठ बतलाया गया है। वा० प्रा० में दन्ताग्र को वकार का करण बतलाया गया है।<sup>19</sup> अतः वा० प्रा० के अनुसार नीचे की पंक्ति में स्थित सामने वाले दाँतों द्वारा ऊपर के ओष्ठ पर स्पर्श करके वकार का उच्चारण करते हैं। इसका कारण यह है कि ऊपर के दाँतों को निष्क्रिय एवं निश्चल होने से करण नहीं कहा जा सकता एवं नीचे के ओष्ठ को अधिक सक्रिय तथा चलायमान होने से स्थान नहीं कहा जा सकता। च० अ० में भी स्पष्टतः नीचे के ओष्ठ को ही करण कहा गया है, परन्तु तै० प्रा० में वकार के उच्चारण के विषय में अन्य प्रातिशाख्यों से किञ्चित् भिन्न विधान प्राप्त होता है। इसके अनुसार ओष्ठ के किनारों से दाँतों पर स्पर्श करके वकार का उच्चारण करना चाहिए।<sup>20</sup> तै० प्रा० के इस विधान पर विचार करने से स्पष्ट होता है कि नीचे के ओष्ठ के दोनों किनारों द्वारा ऊपर के दाँतों का स्पर्श करके वकार का उच्चारण किया जाता है। इस सूत्र पर वैदिकभरण में कहा गया है कि ओष्ठ के बाह्य और आभ्यन्तर भागों के भिन्न होने से 'ओष्ठान्ताभ्याम्', पद में द्विवचन का प्रयोग किया गया है। इस पद में द्विवचन का प्रयोग होने के कारण यह संदेह हो सकता है कि एक ही साथ ओठ के बाह्य और आभ्यन्तर दोनों किनारों का स्पर्श दाँतों के साथ होना कैसे सिद्ध होगा? इस संदेह का निराकरण स्वयं भाष्यकार ने प्रस्तुत कर दिया है। भाष्यकार का मन्तव्य है कि वकार का उच्चारण स्वभावतः निचले ओष्ठ के अन्दर वाले भाग के किनारे से होता है और कभी-कभी निचले ओष्ठ के बाहर वाले भाग के किनारे से भी हो जाता है। जब वकार दो ओष्ठय स्वरों के मध्य में उच्चरित होता है, तब इसका उच्चारण निचले ओष्ठ के बाह्य भाग के किनारे से होता है तथा अन्य अवस्थाओं में वकार का उच्चारण निचले ओष्ठ के अन्दर वाले किनारे से होता है।<sup>21</sup> प्रातिशाख्यों, शिक्षा ग्रंथों तथा व्याकरणग्रंथों में य, र, ल, व - इन चारों वर्णों को अन्तस्थ कहा गया है। परन्तु आधुनिक ध्वनि-वैज्ञानिक रेफ एवं लकार को अन्तस्थ मानने के पक्ष में नहीं हैं। इसका कारण यह हो सकता है कि रेफ एवं लकार का उच्चारण प्राचीन काल में जिस प्रकार से होता था, उस प्रकार से आज के युग में नहीं होता है। सम्प्रति रेफ का उच्चारण लुण्ठित ध्वनि की भाँति किया जाता है तथा लकार का उच्चारण पार्श्विक ध्वनि के रूप में किया जाता है। यकार तथा वकार का उच्चारण आज भी उसी प्रकार से किया जाता है, जिस प्रकार से प्राचीन काल में होता था। रेफ और लकार को अन्तस्थ वर्ण न मानने का कारण यह भी है कि, जिस प्रकार यकार तथा वकार के उच्चारण में जिह्वा को क्रमशः इकार एवं उकार के उच्चारण की स्थिति से होकर आगे जाना पड़ता है, उस प्रकार रेफ और लकार की उच्चारणावस्था में जिह्वा नहीं कार्य करती। अर्थात् रेफ के उच्चारण में जिह्वा को 'ऋ' के उच्चारण की अवस्था से होकर गुजरना चाहिए तथा लकार के उच्चारण में जिह्वा को 'लृ' के उच्चारण की अवस्था से होकर गुजरना चाहिए। परन्तु आज इन वर्णों का उच्चारण उपर्युक्त रीति से नहीं होता है। यकार एवं इवर्ण के उच्चारण में भेद यही है कि इवर्ण के उच्चारण में जिह्वा का मध्य भाग तालु के साथ सन्निकर्ष प्राप्त करता है तथा यकार के उच्चारण में जिह्वाग्रमध्य के दोनों किनारे तालु का स्पर्श करते हैं। यह स्पर्श अत्यल्प एवं अपूर्ण होता है। रेफ के उच्चारण में जिह्वाग्र के मध्य भाग से दन्तमूल के ऊपरी भाग पर स्पर्श किया जाता है। जबकि ऋवर्ण के उच्चारण में जिह्वाग्र को वर्स्व के समीप ले जाया जाता है। लकार के उच्चारण में जिह्वाग्रमध्य के द्वारा दन्तमूल प्रदेश पर स्पर्श किया जाता है परन्तु लृवर्ण के उच्चारण में दन्तमूल पर स्पर्श न करके जिह्वाग्र को वर्स्व के

समीप ले जाते हैं। इसी प्रकार वकार के उच्चारण में दाँतों के द्वारा नीचे के ओष्ठ के किनारे को स्पर्श किया जाता है एवं उवर्ण के उच्चारण में दोनों ओष्ठ परस्पर समीप आ जाते हैं। उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि यकार तथा इवर्ण की उच्चारण प्रक्रिया में अत्यधिक साम्य है तथा वकार एवं उवर्ण की उच्चारण प्रक्रिया में भी पर्याप्त साम्य है, क्योंकि वकार के उच्चारण में ऊपर के दाँतों द्वारा किये गए स्पर्श के साथ ही ऊपर का ओष्ठ भी नीचे के ओष्ठ से सन्निकर्ष प्राप्त कर लेता है। रेफ और लकार की उच्चारण प्रक्रिया क्रमशः ऋवर्ण एवं लृवर्ण के उच्चारण के साथ उस सीमा तक समानता नहीं रखती, जिस सीमा तक यकार एवं वकार की उच्चारण प्रक्रिया परस्पर समानता रखती है। इसका कारण यह है कि लकार एवं रेफ के उच्चारण में ऋकार एवं लृकार के साथ स्थान एवं करण दोनों की पूर्णतः समानता नहीं रहती। इसीलिए परवर्ती काल में रेफ और ऋवर्ण तथा लकार एवं लृवर्ण के मध्य उच्चारण संबंधी समानता नहीं रह गई। परवर्ती काल में उच्चारण सौकर्य के कारण ऋवर्ण का उच्चारण स्वर के रूप में न होकर 'रि' 'री' आदि व्यंजन मिश्रित स्वर की भांति होने लगा तथा लृवर्ण का उच्चारण भी 'लि' 'ली' की भांति होने लगा। वस्तुतः आधुनिक काल में ऋवर्ण एवं लृवर्ण अपने स्वरात्मक रूप को छोड़कर व्यंजन के समान उच्चरित होने लगे हैं। इसीलिए रेफ और लकार ने भी अपना अन्तस्थ रूप छोड़कर पूर्णतः स्पर्श वर्ण का रूप ग्रहण कर लिया है। डॉ० रामगोपाल के अनुसार प्राचीन पाण्डुलिपियों तथा विदेशी भाषा में लिखे गये संस्कृत शब्दों के उच्चारण से ज्ञात होता है कि प्राचीनकाल में 'ऋ' का उच्चारण अंशतः 'रि' के सदृश होता था।

ऊष्म-वर्णों<sup>12</sup> के उच्चारण में फेफड़े से आती हुई 'निःश्वास' वायु स्वरतंत्रियों के दोनों परदों के परस्पर दूर रहने के फलस्वरूप कण्ठ विवर में श्वास नामक द्रव्य का रूप ग्रहण करके मुख विवर में जाती है। मुख विवर में वायु को न तो स्पर्श वर्णों की उच्चारण प्रक्रिया की भांति पूर्णतः रोक दिया जाता है और न ही स्वरवर्णों की उच्चारण-प्रक्रिया की भांति अबाधरूप से बाहर ही निकल जाने दिया जाता है, अपितु संघर्षी व्यंजनों के उच्चारण में उच्चारणावयवों को परस्पर समीप करके वायु मार्ग को संकीर्ण कर देने से वायु उच्चारणाङ्गों (करण और स्थान) के बीच से रगड़ खाकर निकलती रहती है। जिस प्रकार स्वर ध्वनियों को श्वास में अन्त तक निरन्तर उच्चरित किया जा सकता है, उसी प्रकार ऊष्म-वर्णों का उच्चारण भी श्वास के अन्त तक किया जा सकता है। इसलिए प्रसिद्ध भाषा वैज्ञानिक 'ब्लूम फील्ड' ने इस प्रकार के व्यंजनों को निरन्तर ध्वनि कहा है। इस श्रेणी की ध्वनियों के उच्चारण में वायु को घर्षण करते हुए निकलने के कारण कतिपय ग्रंथों में इन ध्वनियों को 'संघर्षी' नाम भी प्रदान किया गया है। च० अ० में ऊष्म-वर्णों के उच्चारण में विवृतता के साथ ईषत्स्पष्टता भी रहती है। इन वर्णों के उच्चारण में करण द्वारा स्थान का अत्यल्प रूपेण स्पर्श करते हुए मुख विवर को संकरा बना दिया जाता है। जिससे वायु घर्षण करती हुई मुख विवर से बाहर निकलती है।<sup>13</sup> तै० प्रा० में ऊष्म-वर्णों की उच्चारण प्रक्रिया को बतलाते हुए कहा गया है कि ऊष्मवर्ण क्रम से स्पर्श वर्णों के स्थानों में उच्चरित होते हैं। इसी सूत्र पर माहिषेय भाष्य में सूत्रार्थ को स्पष्ट किया गया है जिसके अनुसार जिह्वामूलीय कवर्गस्थान से उच्चरित होता है। शकार चवर्गस्थान से उच्चरित होता है। उपध्मानीय पवर्गस्थान से उच्चरित होता है। त्रिभाष्यरत्न में षकार एवं सकार को क्रमशः टवर्गस्थान एवं तवर्गस्थान से उच्चरित होने वाला वर्ण स्वीकार किया गया है। इस सूत्र का तात्पर्य है कि इन ऊष्म-वर्णों का स्थान एवं करण दोनों वे ही हैं, जो उनसे संबंधित स्पर्श वर्णों के उच्चारण-स्थान एवं करण हैं। तै० प्रा० में यह भी विधान किया गया है कि ऊष्म-वर्णों के उच्चारण में करण का मध्य भाग खुला रहता है।<sup>14</sup> तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार स्पर्श वर्णों के उच्चारण में करण

का उच्चारणस्थान के साथ पूर्णतः स्पर्श होने से उनके बीच का भाग खुला नहीं रहता है, उस प्रकार की स्थिति ऊष्म-वर्णों के उच्चारण में नहीं होती। ऊष्म वर्णों के उच्चारण के समय सक्रिय उच्चारणावयव (करण) निष्क्रिय उच्चारणावयव (स्थान) का आंशिक स्पर्श करते हैं। सक्रिय उच्चारणावयवों के मध्य भागों का उच्चारण स्थानों के साथ स्पर्श नहीं होता है। इससे वायु का मार्ग पूर्णरूप से अवरुद्ध न होकर थोड़ा सा खुला रहता है। फलस्वरूप वायु घर्षण करती हुई शीत्कार ध्वनि के साथ इस संकरे मार्ग से निरन्तर बाहर निकलती रहती है।

'ऊष्मन्' का शाब्दिक अर्थ है 'गर्मवायु' या 'वाष्प'। ऋ० प्रा० के भाष्य में उवट ने स्पष्ट कहा है कि ऊष्मा का अर्थ है वायु तथा वायु-प्रधान वर्णों को 'ऊष्मवर्ण' कहा जाता है।<sup>15</sup> तै० प्रा० पर वैदिकाभरण में कहा गया है - ऊष्मा नामक बाह्य प्रयत्न के योग से उच्चरित होने के कारण ये वर्ण ऊष्मन् कहे जाते हैं। अर्थात् ऊष्म वर्णों के उच्चारण में मुख से निःसृत वायु वाष्प की भांति गर्म होती है।<sup>16</sup>

सभी प्रातिशाख्य शकार के उच्चारणस्थान एवं करण के विषय में एकमत हैं। प्रातिशाख्यों में शकार का उच्चारणस्थान तालु एवं करण जिह्वामध्य बतलाया गया है।<sup>17</sup> अर्थात् शकार के उच्चारण में जिह्वामध्य द्वारा तालु पर स्पर्श कराया जाता है, परन्तु यह स्पर्श इस प्रकार होता है, जिसमें जिह्वा के दोनों तरफ कुछ भाग खुला रह जाता है। परिणामतः मुख की वायु स्थान एवं करण के बीच से घर्षण करती हुई एक शीत्कार ध्वनि के साथ बाहर निकल जाती है। वैयाकरण भी तालु प्रदेश को ही शकार का उच्चारणस्थान स्वीकार करते हैं।

सभी प्राचीन ध्वनि वैज्ञानिक ग्रंथों में षकार को मूर्धा से उच्चरित होने वाला वर्ण माना गया है तथा प्रतिवेष्टित जिह्वाग्र को इस वर्ण का करण माना गया है।<sup>18</sup> च० अ० में विधान किया गया है कि षकार के उच्चारण में प्रतिवेष्टित (मुड़े हुए) जिह्वाग्र को द्रोणिका (नाव अथवा नौका) के आकार का बनाकर मूर्धा प्रदेश पर स्पर्श किया जाता है। अर्थात् जिह्वाग्र को ऊपर की ओर मोड़कर उसे नौका के आकार की बनाकर मूर्धा प्रदेश पर स्पर्श किया जाता है।<sup>19</sup> अन्य प्रातिशाख्यों में टवर्ग और षकार की उच्चारण-प्रक्रिया से करण एवं स्थान अवस्थाओं में कोई विभेद नहीं माना गया है। तै० प्रा० में यह विधान अवश्य किया गया है कि स्पर्श वर्णों और ऊष्म वर्णों के उच्चारण में भेद यही है कि ऊष्म वर्णों के उच्चारण में स्थान और करण के बीच की स्थिति विवृत होती है। स्पर्श वर्णों के उच्चारण में वायु क्षण भर के लिये स्थान पर रुक जाती है, जबकि ऊष्म वर्णों के उच्चारण में वह निरन्तर किंचित् घर्षण के साथ मुख विवर से निकलती रहती है। च० अ० के विधान पर विचार करने से ऐसा स्पष्ट होता है कि जिह्वा के आकार के द्रोणिका की भांति हो जाने से एवं उसके तथा मूर्धा के मध्य कुछ अवकाश मिल जाने से वायु को निरन्तर बाहर निकलने के लिए मार्ग मिलता रहता है। अतः सभी प्रातिशाख्यों के मत से षकार का उच्चारण मूर्धा स्थान से होता है।

सकार के उच्चारण के संबंध में सभी प्रातिशाख्यों में एकमत नहीं है। अधिकतर प्रातिशाख्यकार लकार और सकार का उच्चारण-स्थान समान मानते हैं। अतः सकार के उच्चारण के संबंध में भी प्रायः उसी प्रकार का मतभेद पाया जाता है, जिस प्रकार का मतभेद लकार के उच्चारण के संबंध में पाया जाता है। ऋ० प्रा० एवं तै० प्रा० के अनुसार सकार का उच्चारण दन्तमूल प्रदेश से होता है। अन्य प्रातिशाख्यों एवं शिक्षाग्रंथों में इस वर्ण को दन्तस्थान से उच्चरित होने वाला वर्ण माना गया है। सकार के उच्चारण में जिह्वाग्र को करण माना गया है। तात्पर्य यह है कि सकार के उच्चारण में जिह्वाग्र द्वारा दाँतों पर अथवा दन्तमूल पर स्पर्श किया जाता है। च० अ० दन्त्य वर्णों के उच्चारण में फैले हुए जिह्वाग्र को करण स्वीकार करती है।

आधुनिक ध्वनि वैज्ञानिकों ने हकार के दो रूपों को स्वीकार किया है – प्रथम 'अघोष' तथा द्वितीय 'सघोष'। अघोष हकार को विसर्जनीय एवं सघोष हकार को हकार कहा जाता है। अधिकतर प्रातिशाख्यों में इन वर्णों को कण्ठस्थानीय वर्ण माना गया है किन्तु कतिपय प्रातिशाख्य इनकी उच्चारण प्रक्रिया में कुछ विशेष तथ्यों का संकेत करते हैं। ऋ० प्रा० में स्पष्टतः कहा गया है कि ऊष्म वर्णों में प्रथम एवं पंचम वर्ण (हकार और विसर्जनीय) कण्ठ स्थान से उच्चरित होते हैं।<sup>20</sup> परन्तु ऋ० प्रा० में यह भी कहा गया है कि कतिपय आचार्य इन वर्णों को उरस् (छाती) से उच्चरित होने वाला वर्ण स्वीकार करते हैं। इन आचार्यों के अनुसार हकार और विसर्जनीय के उच्चारण में मुख के उच्चारणावयवों का कोई उपयोग नहीं होता। इन आचार्यों के विचारों की प्रशंसा करते हुए हिवटनी का कहना है कि जिस विद्वान् ने इन वर्णों को उरस् (छाती) से उत्पन्न कहा है, वह अपने सूक्ष्म निरीक्षण के लिए प्रशंसनीय है, क्योंकि यह भी कहा जा सकता है कि इन ध्वनियों के उच्चारण में कण्ठ का कोई योगदान नहीं होता है। मुख की भाँति यह कण्ठ केवल मार्ग है जिसमें होकर छाती से फेंकी हुई वायु बाहर निकलती है। तै० प्रा० में हकार और विसर्जनीय को कण्ठस्थानीय वर्ण स्वीकार किया गया है। इसी सूत्र पर वै० में एक कारिका को उद्धृत करके यह स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है कि हकार का उच्चारण किस स्थिति में कण्ठस्थान से होता है एवं किस स्थिति में उरस (छाती) से होता है। इस कारिका के अनुसार वर्णों के पंचम वर्णों एवं अन्तस्थ वर्णों से संयुक्त हकार को उरस् से उत्पन्न होने वाली ध्वनि जानना चाहिए तथा इन वर्णों से असंयुक्त हकार को कण्ठ से उच्चरित होने वाला वर्ण जानना चाहिए। तात्पर्य यह है कि यदि हकार के बाद स्पर्श वर्णों के पंचम वर्ण अथवा कोई अन्तस्थ वर्ण उच्चरित होता है, तो हकार का उच्चारण 'उरस्' से होता है, अन्यथा हकार कण्ठ स्थानीय वर्ण है। तै० प्रा० में हकार के उच्चारण के संबंध में करण का निर्देश नहीं किया गया है। तै० प्रा० पर भाष्य में सभी भाष्यकार हकार और विसर्जनीय के उच्चारण में करण का अभाव बतलाते हैं। परन्तु तै० प्रा० पर वैदिकाभरण में कहा गया है कि करण के अनुक्त होने पर स्थान को ही करण जानना चाहिए।<sup>21</sup> आपिशलि-शिक्षा में भी कहा गया है – शेष अर्थात् जिनके उच्चारण में करण का निर्देश नहीं किया गया है, उनके उच्चारण में स्थान को ही करण मानना चाहिए। तै० प्रा० में हकार और विसर्जनीय वर्ण उदाहरण के संबंध में कतिपय अन्य आचार्यों के मतों को उद्धृत किया गया है। जिनके अनुसार हकार अपने परवर्ती स्वर के आदि भाग के समान स्थान से उच्चरित होता है तथा विसर्जनीय अपने पूर्ववर्ती स्वर के अन्त वाले भाग के समान उच्चारण-स्थान से उच्चरित होता है। त्रिभाष्यरत्न के अनुसार प्रस्तुत विधान केवल संध्यक्षरों के पश्चात् आए हुए विसर्जनीय एवं संध्यक्षरों के पूर्व आए हुए हकार के विषय में ही संगत है। परन्तु वैदिकाभरण के अनुसार किसी भी स्वर के पश्चात् आने वाला विसर्जनीय उसी स्वर के स्थान से उच्चरित होता है एवं किसी भी स्वर से पूर्व आने वाला हकार उसी स्वर के स्थान से उच्चरित होता है।

### निष्कर्ष (Conclusion)

अन्तस्थ एवं ऊष्म वर्ण न तो पूर्णतः स्वरों की भाँति अबाध उच्चरित होते हैं और न ही स्पर्शों की भाँति सबाध। इनका उच्चारण अबाध-सबाध के मध्य का है। इस मध्यावस्था में भी दोनों की अपनी-अपनी विशेषताएँ हैं।

### संदर्भ (Reference)

1. तैत्तिरीय प्रातिशाख्य – 2 | 41
2. ऋक्तंत्र – 8
3. ऋक् प्रातिशाख्य – 1 | 46
4. तै० प्रा० – 2 | 40

5. वाजसनेयि प्रातिशाख्य – 1 | 77
6. तै० प्रा० – 2 | 40 पर वैदिकाभरण
7. पाणिनि शिक्षा – 17
8. ऋ० प्रा० – 1 | 45, तै० प्रा० – 2 | 42
9. वा० प्रा० – 1 | 81
10. तै० प्रा० – 2 | 43
11. तै० प्रा० 2 | 43 पर त्रिभाष्यरत्न
12. ऋ० प्रा० – 1 | 10, 11
13. च० अ० – 1 | 31
14. तै० प्रा० – 2 | 15
15. ऋ० प्रा० – 1 | 10 पर उवट
16. तै० प्रा० – 1 | 9 पर वै०
17. च० अ० – 1 | 21
18. वा० प्रा० – 1 | 76
19. च० अ० – 1 | 23
20. ऋ० प्रा० – 1 | 39
21. तै० प्रा० – 2 | 46 पर वै०